Dimensions of Jain Philosophy and Indian Culture

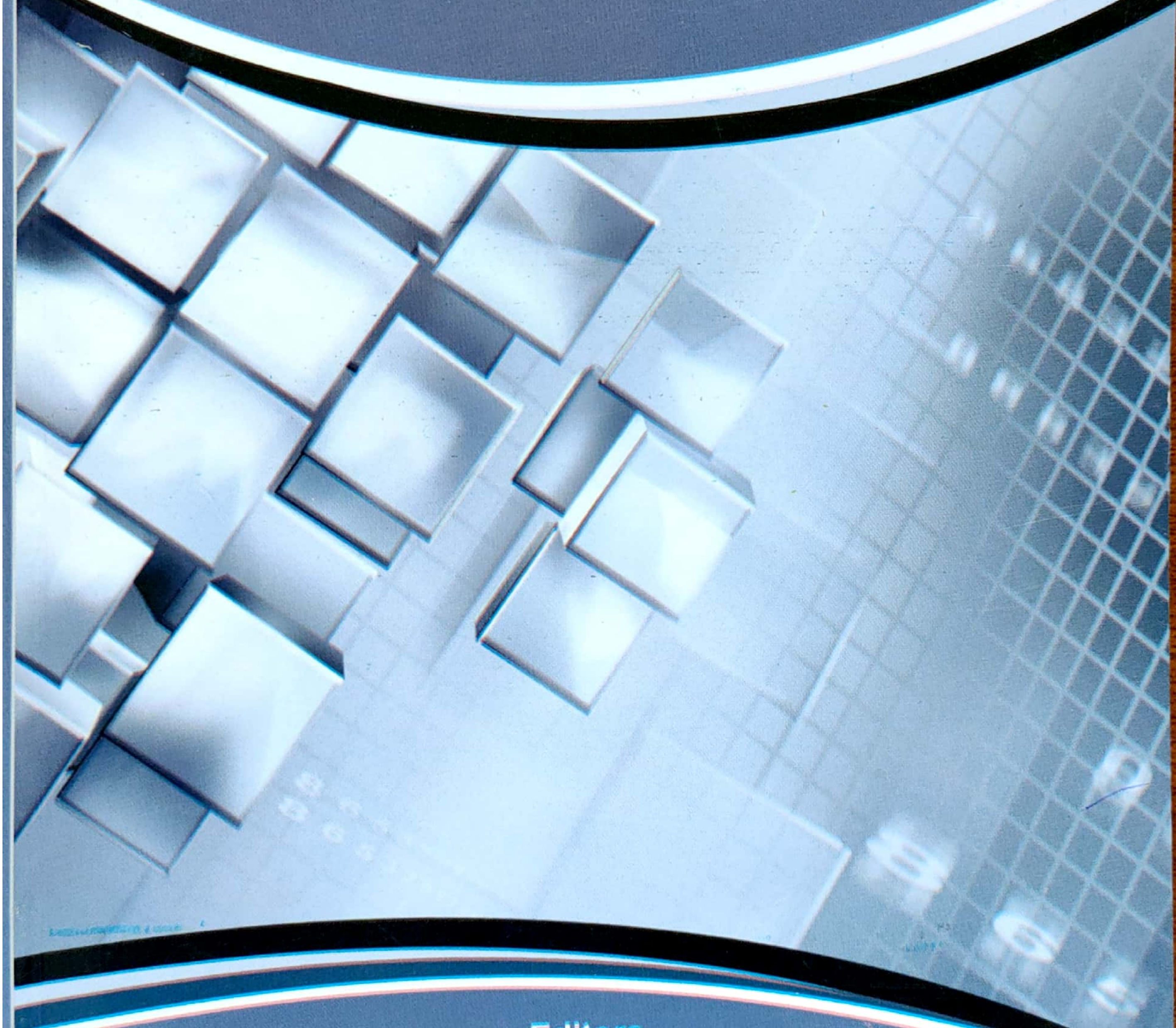

Editors
Dr Samani Sulabh Pragya
Prof. Samani Riju Pragya
Prof. B. L. Jain
Samani Samyaktva Pragya

Scanned with CamScanner

Dimensions of Jain Philosophy and Indian Culture

Editor : Dr Samani Sulabh Pragya
Prof. Samani Riju Pragya
Prof. B. L. Jain
Samani Samyaktva Pragya

© : Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun

ISBN : 978-93-83634-38-5

Edition : 2018

Rs. : 350/-

Publisher : Bhagwaan Mahaveer International Research Center
Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun 341306 (Rajasthan) India
www.jvbi.ac.in

Printed by :

Scanned with CamScanner

Contents

Section-1 (A) : Jain Philosophy

1. प्राचीन जैन साहित्य में शरीर और चिकित्सा विज्ञान 3-16
   प्रो. दामोदर शास्त्री
2. आगम व्याख्या-साहित्य में प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त 17-27
   प्रो. समणी कुसुमप्रज्ञा
3. आचार्य महाप्रज्ञ-साहित्य में अध्यात्म-विकास की भूमिकाएं 29-42
   प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा एवं डॉ. समणी श्रेयसप्रज्ञा
4. जैनदर्शन में समुद्घात की अवधारणा 43-57
   समणी सम्यक्त्वप्रज्ञा
5. **Number Theory: A Mathematical Solution of Metaphysical Problems in Jaina *Āgama*** 59-72
   Dr Samani Vinay Pragya
6. **Communication and our Relations** 73-84
   Dr Samani Aagam Pragya
7. जैन परंपरा में मान्य सूर्य एवं चन्द्रमाँ का स्वरूप 85-95
   डॉ. योगेश कुमार जैन
8. पर्यावरण संरक्षण और जैन धर्म 97-103
   डॉ. रवीन्द्र सिंह राठौड़
9. पर्यावरण प्रदूषण की समस्या और जैन दर्शन 105-119
   डॉ. समणी हिमप्रज्ञा
10. सामायिक आवश्यक : एक अनुशीलन 121-141
    डॉ. मुमुक्षु वन्दना मेहता

Section-1 (B) : Experimental Researches on Preksha Meditation

11. **Role of Preksha Meditation in Improvement of Blood Count and Biochemistry of Adults** 145-154
    Dr Pradyumna Singh Shekhawat

Scanned with CamScanner

12. **Effect of Preksha Meditation on Cognitive Distortion** 155-174
Dr Samani Sulabh Pragya
13. प्रेक्षाध्यान का महाविद्यालयी छात्राओं की सृजनात्मक क्षमताओं पर प्रभाव का अध्ययन 175-183
डॉ. अशोक भास्कर

Section-2 (A) : Indian Culture

14. बीकानेर संभाग में प्राप्त संस्कृत अभिलेखों का सांस्कृतिक तत्व 187-194
डॉ. समणी संगीत प्रज्ञा
15. अहिंसक जीवनशैली: सामाजिक समरसता का आधार गांधीयन परिप्रेक्ष्य 195-207
डॉ. जुगलकिशोर दाधीच
16. वैदिक संस्कृति में तप की महत्ता एवं उपादेयता 209-221
डॉ. सुनिता इंदोरिया
17. कालिदास के साहित्य में सामाजिक समरसता 223-229
डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज
18. आचार्य महाप्रज्ञ का शिक्षा दर्शन 231-244
डॉ. हेमलता जोशी

Section-2 (B) Miscellaneous

19. **Choice Based Credit System: A new paradigm Shift in Indian University Platform** 247-260
Dr Bhabagrahi Pradhan
20. **Various Types of Cooperation in Rural Communities of Ladnun, Rajasthan: A study** 261-278
Dr Bijendr Pradhan
21. **Diasporic Conditions and the Aporia of Female Sensibility in Jhumpa Lahiri's The Namesake.** 279-285
Dr Govind Sarswat

Scanned with CamScanner

आचार्य महाप्रज्ञ-साहित्य में अध्यात्म-विकास की भूमिकाएं

*****

*प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
**डॉ. समणी श्रेयसप्रज्ञा

सारांशिका

प्रत्येक साधक का अंतिम साध्य मोक्ष को प्राप्त करना है। उस अवस्था तक पहुंचने के लिए अनेक भूमिकाओं से गुजरना होता है। जैन आचार्यों ने अध्यात्म की उन क्रमिक अवस्थाओं का अनेक रूपों में विवेचन किया है। आचार्य महाप्रज्ञ के साहित्य में भी अध्यात्म विकास की अनेक भूमिकाओं का विश्लेषण हुआ है जिन्हें चार रूपों में व्याख्यायित किया गया है। पहले क्रम में सात भूमिकाएं है– सुलभ बोधि, सम्यक् दृष्टि, अणुव्रती, प्रतिमाधर, प्रमत्तमुनि, अप्रमत्त मुनि, अयोगी। दूसरे क्रम में छः भूमिकाएं है मूढ़ता, अन्तर्दृष्टि, समत्व, अप्रमाद, वीतराग, केवली। तीसरे क्रम में पांच भूमिकाएं है– सम्यग् दृष्टिकोण का विकास, आत्मतुला की चेतना का विकास, ज्ञाता–द्रष्टा–चेतना का विकास, समता की चेतना का विकास, अनावृत्त चेतना का विकास। चौथे क्रम में तीन भूमिकाएं है- सकर्मा, सत्कर्मा, निष्कर्मा।

इन अवस्थाओं का सुन्दर विवेचन उनके साहित्य में हुआ है। साथ ही इन अवस्थाओं को प्राप्त करने हेतु अध्यात्म विकास के अनेक सूत्रों की भी चर्चा प्राप्त होती है। जिनमें दो सूत्र प्रमुख है– संवर और निर्जरा। संवर की साधना के लिए संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान– इन चार बातों पर बल दिया गया है तथा निर्जरा के बारह भेदों की साधना को भी चार सूत्रों में समाहित किया गया है– आहार शुद्धि, कायसिद्धि, इन्द्रिय संयम और ध्यान, जिसे इस आलेख में प्रस्तुत किया गया है।

सम्बद्ध शब्द : *अध्यात्म, अप्रमाद, ज्ञाता–द्रष्टा, संवर, निर्जरा।*

***प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,** जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग
****सहाआचार्य,** योग एवं जीवन विज्ञान विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

भूमिका

अन्तर्जगत् की पहचान के लिए जिस विद्या का विकास हुआ, उस विद्या का नाम है– अध्यात्म विद्या। **'अधि आत्मानं अध्यात्मम्, आत्मानमधिकृत्य या क्रिया प्रवर्तते तद् अध्यात्मम्'** अर्थात् जो आत्मा में है, वह अध्यात्म है। आत्मा को केन्द्र में रखकर जो क्रिया या प्रवृत्ति की जाती है, वह अध्यात्म है। अध्यात्मोपनिषद् के अनुसार–

गतमोहाधिकाराणामात्मानमधिकृत्य या।
प्रवर्तते क्रिया शुद्धा, तदध्यात्मं जगुर्जिनाः।।[1]

अर्थात् हमारी हर क्रिया–चलना, बोलना, खाना, पीना आध्यात्मिक क्रिया हो सकती है। यदि हर क्रिया के केन्द्र में आत्मा रहे और मोह उपशान्त हो। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अनुसार– **निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मम्**[2] अर्थात् अपने शुद्धात्मा में विशुद्धता का आधारभूत अनुष्ठान या आचरण अध्यात्म है। गीता में कहा गया– '**स्वाभावोऽध्यात्म उच्यते**'[3] अध्यात्म का अर्थ है– स्वभाव में रहना। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार–

- अध्यात्म स्वतंत्रता की अनुभूति है–इसमें आकांक्षा के उत्ताप बंधन टूट जाते हैं।
- अध्यात्म पूर्णता की अनुभूति है–इसमें रिक्तताएँ भर जाती हैं, शून्य ठोस में बदल जाता है।
- अध्यात्म आनन्द की अनुभूति है–इसमें दुःख की परम्परा विच्छिन्न हो जाती है।[4]

अध्यात्म को और अधिक स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं–जिसके अभाव में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं और जिसके होने पर समस्याएँ सुलझती हैं, उसका नाम अध्यात्म है। अध्यात्म केवल आत्मानुभूति का प्रयोग है। यह सर्वथा अपदार्थ की चेतना है। इसे चेतना का सर्वोत्तम विकास कहा जा सकता है। सर्वोत्तम विकास है– अस्तित्व की उपलब्धि।[5]

अध्यात्म-साधना का उद्देश्य

आत्मा को कर्म से मुक्त कर आत्मस्वरूप में स्थिर करना ही साधना का उद्देश्य है। संसारी अवस्था में आत्मा का अनंतरित संबंध कर्मशरीर से होता है। वह आत्मा को चार रूपों में प्रभावित करता है।

कुछ कर्म परमाणु आत्मा के ज्ञान–दर्शन को आवृत्त करते हैं। कुछ कर्म परमाणु आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। कुछ कर्म परमाणु आत्मा के वीर्य का

प्रतिघात या अवरोध करते हैं। कुछ कर्म परमाणु पारमाणविक संयोग प्राप्ति के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आवरण, विकार, प्रतिघात और प्राप्ति इन चार रूपों में कर्म परमाणु आत्मा को प्रभावित करते हैं। यह प्रभावित अवस्था ही बंधन है। इस प्रभाव से छूटना ही मुक्ति है और वही आत्मा का स्वरूप है। निरावरण दशा आत्मा का स्वरूप है, इसका अर्थ है ज्ञान और दर्शन का पूर्णरूपेण प्रकट हो जाना। वीतरागता आत्मा का स्वरूप है, इसका अर्थ है विकार से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना। शक्ति आत्मा का स्वरूप है। परमाणुओं से असंबद्ध होना आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप की उपलब्धि ही साधना का उद्देश्य है।[6]

आचार्य महाप्रज्ञजी ने एक शब्द में साधना का उद्देश्य बताते हुए लिखा है– 'निज्जरट्ठाए' साधना का उत्कृष्ट लक्ष्य–निर्जरा है। यह अमूर्त्त की भाषा है। यदि इसे मूर्त्त की भाषा में कहें तो– साधना है स्वास्थ्य–विकास के लिए, साधना है सुख–विकास के लिए, साधना है ज्ञान–विकास के लिए और साधना है शक्ति–विकास के लिए।[7]

अध्यात्म-विकास की भूमिकाएँ

अध्यात्म की आराधना का लक्ष्य है–मोक्ष–प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। यह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों–ज्यों मोह का बंधन टूटता है, त्यों–त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक बंधन की तरतमता के आधार पर जैन आगम एवं आगमेतर साहित्य में अध्यात्म की अनेक भूमिकाएँ निश्चित की गई हैं। अध्यात्म विकास का प्रारम्भिक बिन्दु है–आत्मा का संज्ञान और उसका चरम बिन्दु है–आत्मोपलब्धि या आत्म–साक्षात्कार। आचार्य महाप्रज्ञजी के साहित्य में भी आत्म–विकास की अनेक भूमिकाओं का विश्लेषण हुआ है। जैन दर्शन में वर्णित अध्यात्म विकास की चौदह भूमिकाओं (गुणस्थान) को उन्होंने चार तरह से व्याख्यायित किया है–

अध्यात्म-विकास की भूमिका का पहला क्रम

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अध्यात्म–विकास की निम्न सात भूमिकाएँ निर्धारित की हैं–

1. सुलभ बोधि, 2. सम्यक्‌दृष्टि 3. अणुव्रती,
4. प्रतिमाधर, 5. प्रमत्तमुनि, 6. अप्रमत्त मुनि,
7. अयोगी।

1. **सुलभ बोधि**–यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ बोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

2. **सम्यग्‌दृष्टि**—यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

3. **अणुव्रती**—यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श—दोनों होता है।

4. **प्रतिमाधर**—यह चौथा स्तर है। प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है।

5. **प्रमत्त मुनि**—यह पांचवां स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

6. **अप्रमत्त मुनि**—यह छठा स्तर है। प्रमत्त मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद—दशा में वीतराग भाव आता है, केवलज्ञान होता है।

7. **अयोगी**—यह सातवां स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होती है।[8]

अध्यात्म-विकास की भूमिका का दूसरा क्रम

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अध्यात्म—विकास की निम्न छः भूमिकाएँ निर्धारित की हैं—

1. मूढ़ता,	2. अन्तर्दृष्टि,	3. समत्व,
4. अप्रमाद,	5. वीतराग,	6. केवली।

1. मूढ़ता— मूढ़ व्यक्ति शरीर और अपने अस्तित्व को भिन्न नहीं मानता। अपनी पुस्तक "जैन योग" में आचार्य महाप्रज्ञ ने मूढ़ता के तीन लक्षण बताये हैं—

> मूढ़ अवस्था का पहला लक्षण है—विपर्यय।
> मूढ़ अवस्था का दूसरा लक्षण है—अनंत अनुबंध।
> मूढ़ अवस्था का तीसरा लक्षण है— अतीन्द्रिय सत्य के प्रति अनास्था।[9]

इस अवस्था में बुद्धि विपरीत और दृष्टि मिथ्या रहती है अतः यह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का ही एक रूप है।

2. अंतर्दृष्टि—अंतर्दृष्टि अध्यात्म की दूसरी भूमिका है। जैसे ही अंतर्दृष्टि जागती है, मूढ़ता समाप्त हो जाती है। अंतर्दृष्टि का अर्थ शरीर के भीतर देखना नहीं, अपितु शरीर से परे कुछ है, उसका भान हो जाना है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं—जिस व्यक्ति की अंतर्दृष्टि जाग जाती है, उसका चिंतन स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ चिंतन का पहला सूत्र है—अन्यत्व की

अनुप्रेक्षा। मैं शरीर से भिन्न हूँ और शरीर मुझसे भिन्न है, इस सत्य का बोध होने पर वह शरीर में होने वाली घटनाओं को द्रष्टा की भाँति देखता है। उसका संवेदन नहीं करता। अन्यत्व अनुप्रेक्षा से पहली बार उसे अनुभव होता है कि मैं अकेला हूँ। वह सोचता है, जब शरीर ही मेरा नहीं तो दूसरा कौन मेरा होगा। एकत्व अनुप्रेक्षा के स्थिर होने पर एक नया चिंतन उभरता है, वह है–आत्मा के साथ शरीर, पदार्थ, व्यक्ति का संयोग है। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग निश्चित है। अतः सारे संयोग अनित्य हैं और जब अनित्य अनुप्रेक्षा अनुभव का विषय बन जाता है तब उसमें से आलोक की एक किरण निकलती है। उसे लगता है परिवार, पदार्थ में त्राण बुद्धि की मात्र भ्रान्ति है। ये स्वयं अनित्य, अत्राण हैं, अतः मुझे त्राण कैसे देंगे। इस प्रकार अंतर्दृष्टि के जागरण से अन्यत्व, अन्यत्व से एकत्व, एकत्व से अनित्यत्व और अनित्यत्व से अशरणत्व का बोध स्पष्ट हो जाता है।[10]

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अंतर्दृष्टि जागरण के निम्न लक्षण बताये हैं–
अंतर्दृष्टि का पहला लक्षण है–सम्यग् दर्शन।
अंतर्दृष्टि का दूसरा लक्षण है–अनंत अनुबंध की समाप्ति।
अंतर्दृष्टि का तीसरा लक्षण है–अतीन्द्रिय ज्ञान की स्वीकृति।
अंतर्दृष्टि का चौथा लक्षण है–प्रवृत्ति केन्द्रित नहीं होना।

यदि ये चार लक्षण विकसित होते हैं तो वह व्यक्ति अंतर्दृष्टि से सम्पन्न बन जाता है। उसे अध्यात्म की दूसरी भूमिका प्राप्त हो जाती है और वह आगे की भूमिकाओं में जा सकता है।[11]

3. समत्व–समत्व अध्यात्म विकास की तीसरी भूमिका है–आत्मा भिन्न शरीर भिन्न है–यह भेदज्ञान पुष्ट होने पर समत्व की प्रज्ञा का जागरण होता है। समत्व का जागरण होने पर संतुलन, तटस्थता और संयम–इन तीन अवस्थाओं का विकास होता है।[12] आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार अध्यात्म विकास की पहली भूमिका में जहाँ उपाय विचय या विपाक विचय का चिंतन मात्र था, वहाँ इस अवस्था में अपायों के त्याग की स्थिति प्राप्त हो जाती है।

4. अप्रमाद–अप्रमाद अध्यात्म विकास की चौथी भूमिका है। इस अवस्था में चैतन्य की धारा अविच्छिन्न रहती है, उसमें राग–द्वेष की धारा नहीं मिलती। किन्तु पूर्वार्जित कर्म का उदय, कषाय का दबाव और संज्ञा का प्रभाव–ये सब मिलकर चैतन्य के प्रति होने वाली सतत अनुभूति के क्रम को तोड़ देते हैं, जिससे प्रमाद आ जाता है। अप्रमाद अवस्था समत्व और वीतरागता के मध्य का सेतु है। यह जैसे–जैसे स्थिरपद होता है, वैसे–वैसे समत्व सुस्थिर और वीतराग भाव विकसित होता है।[13]

5–6. वीतराग और केवली–राग–द्वेष मुक्त क्षण का अनुभव होने पर वीतराग भाव प्रकट होता है। इस अवस्था में कषाय का अंश भी विपाक में नहीं रहता। वह सर्वथा क्षीण या उपशांत हो जाता है। उपशांत अवस्था वाला पुनः अवीतराग हो जाता है। यह ग्यारहवें गुणस्थान (उपशांत मोह गुणस्थान) की स्थिति है। क्षीण कषाय वाला वीतराग अवस्था का अनुभव कर केवली हो जाता है। अवशिष्ट आयु का भोग कर मुक्त हो जाता है। सयोगी केवली और अयोगी केवली गुणस्थान का समावेश इस अवस्था में हो जाता है।[14]

अध्यात्म विकास की भूमिका का तीसरा क्रम

आचार्य महाप्रज्ञजी ने अपनी पुस्तक 'सोया मन जग जाये' में चैतन्य विकास के चौदह भागों को संक्षिप्त कर निम्न पाँच भागों में बाँटा है–

1. सम्यग्दृष्टिकोण का विकास,
2. आत्मतुला की चेतना का विकास,
3. ज्ञाता–द्रष्टा–चेतना का विकास,
4. समता की चेतना का विकास,
5. अनावृत्त चेतना का विकास।[15]

1. सम्यक् दृष्टिकोण का विकास

सम्यक् दर्शन की प्राप्ति चैतन्य–विकास का पहला सोपान है। समस्या का मूल मानव का मिथ्या दृष्टिकोण है। जब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता तब तक न समस्या का समाधान होता है और न अध्यात्म का विकास होता है। आचार्य महाप्रज्ञजी ने मानवीय समस्याओं का निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया है–

1. मानवीय संबंधों की समस्या,
2. नैतिकता की समस्या,
3. सामाजिक विषमता की समस्या,
4. अणुशस्त्रों की समस्या,
5. अशांति और तनाव की समस्या।

इन समस्याओं का समाधान सम्यक्दृष्टिकोण से संभव है। सम्यक् दर्शन की तीन निष्पत्तियाँ हैं–करुणा, शांति और स्वतंत्रता–बंधन मुक्ति की चेतना। करुणा के जागरण से क्रूरता समाप्त होती है, जिससे मानवीय संबंधों में परिष्कार होता है। करुणा के साथ नैतिक विकास अपने आप होता है। करुणा के जागरण से सामाजिक विषमता को भी समाधान मिलता है। करुणा के जागने पर अणु–अस्त्रों का भंडार खड़ा नहीं किया जा सकता, जिससे शांति स्वतः घटित होती है।[16]

2. आत्मतुला की चेतना का विकास

यह चेतना का दूसरा सोपान है, जो कि साधु जीवन की भूमिका पर संभव है। आत्मतुला का अर्थ है–समूचे प्राणीमात्र को अपने समान समझना और इसके लिए आवश्यक है–प्रिय–अप्रिय को सहन करने की मनोवृत्ति का विकास। यह वृत्ति तब विकसित होती है, जब आकर्षण की दिशा का बदलाव होता है। राग–द्वेष की ग्रन्थि का भेदन होता है।

3. ज्ञाता-द्रष्टा-चेतना का विकास

यह चेतना का तीसरा सोपान है। इस अवस्था में अप्रमत्तता का विकास होता है। व्यक्ति भीतर और बाहर में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित नहीं होता। उस अप्रभावित अवस्था की चेतना का नाम ज्ञाता–द्रष्टा की चेतना है। जिस चेतना में ज्ञाता–द्रष्टा भाव का विकास हो जाता है, वह अकरणीय कार्य नहीं करता। कर्त्तव्य करता है पर अहंकार नहीं करता। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब दों में–अप्रभावित रहना, अकरणीय न करना और करणीय का अहंकार न करने का नाम ही ज्ञाता–द्रष्टा की चेतना का विकास है।[17]

4. समता की चेतना का विकास

यह चेतना का चौथा सोपान है। सब जीवों के प्रति सम रहना समता है। इस अवस्था में लाभ–अलाभ, सुख–दुःख, जीवन–मरण, निंदा–प्रशंसा, मान–अपमान आदि अनुकूल–प्रतिकूल परिस्थितियों में व्यक्ति सम रहता है, संतुलन नहीं खोता।

5. अनावृत्त चेतना का विकास

चैतन्य विकास का यह अन्तिम सोपान है। इस अवस्था में खण्ड–खण्ड में बंटी चेतना अनावृत्त हो अखण्ड बन जाती है। साधक अपने साध्य को प्राप्त कर अध्यात्म–विकास के शिखर पर पहुँच जाता है।

अध्यात्म विकास की इन पाँच भूमिकाओं में पहली भूमिका में अखण्ड दिशा की ओर प्रस्थान होता है और अन्तिम अवस्था में अखण्ड व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में–

- अध्यात्म–विकास की प्रथम अवस्था में सबसे पहले मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त होता है। दृष्टि बदलते ही अखण्ड व्यक्तित्व की दिशा में पहला चरण आगे बढ़ता है।
- आकर्षण या रुचि का बदलाव होते ही अखण्ड व्यक्तित्व की दिशा में दूसरा चरण आगे बढ़ जाता है।

- मूर्च्छा टूटते ही साधक अपने अस्तित्व के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है। जागृति का सातत्य प्राप्त होते ही अखण्ड व्यक्तित्व की दिशा में तीसरा चरण आगे बढ़ता है।
- जब समता की चेतना जागती है, राग–द्वेष का चक्र टूटता है, तब अखण्ड व्यक्तित्व की दिशा में चौथा चरण आगे बढ़ता है।
- मिथ्या दृष्टिकोण, आकर्षण, मूर्च्छा और राग–द्वेष–इन चारों के समाप्त होने पर पांचवीं भूमिका में चेतना सर्वथा अनावृत्त हो जाती है। अखण्ड व्यक्तित्व का विकास हो जाता है।[18]

अध्यात्म विकास की भूमिका का चौथा क्रम

जैन दर्शन में अध्यात्म–विकास की चौदह भूमिकाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा। आचार्य महाप्रज्ञजी ने इन्हें भिन्न नामों से संबोधित करते हुए आत्म–विकास की निम्न तीन भूमिकाएँ मानी हैं–

1. सकर्मा, 2. सत्कर्मा, 3. निष्कर्मा।

1. सकर्मा–सकर्मा को परिभाषित करते हुए वे संबोधि में लिखते हैं–

कुर्वन् कर्माणि मोहेन, सकर्मात्मा निगद्यते।
अजयेदशुभं कर्म, ज्ञानमाव्रियते ततः।।[19]

अर्थात् मोह कर्म के उदय से जो व्यक्ति क्रिया करता है, वह सकर्मात्मा है। सकर्मात्मा अशुभ कर्म का बंधन करता है और उससे ज्ञान आवृत्त होता है।

2. सत्कर्मा–सत्कर्मा को परिभाषित करते हुए कहा गया–

सत्प्रवृत्तिं प्रकुर्वाणाः, कर्म निर्जरयत्यधम्।
बध्यमानं शुभं तेन, सत्कर्मेत्यभिधीयते।।[20]

अर्थात् जो जीव सत्प्रवृत्ति करता है, उसके पाप–कर्म की निर्जरा होती है और शुभ–कर्म का संग्रह होता है, इसलिए वह सत्कर्मात्मा है।

3. निष्कर्मा–मोह कर्म के सर्वथा क्षीण होने पर आत्मा निष्कर्मा होती है। निष्कर्मा को परिभाषित करते हुए कहा गया–

पूर्ण नैष्कर्म्ययोगस्तु, शैलेश्यामेव जायते।
तं गतो कर्मभिर्जवः क्षणादेव विमुच्यते।।
अपूर्ण नाम नैष्कर्म्यं तदद्योपि प्रवर्तते।
नैष्कर्म्येण विना क्वापि, प्रवृत्तिर्न भवेच्छुभा।।[21]

अर्थात् पूर्ण नैष्कर्म्य योग शैलेशी अवस्था में होता है। यह अवस्था

चौदहवें गुणस्थान में प्राप्त होती है। अपूर्ण नैष्कर्म्य योग शैलेशी अवस्था से पहले भी होता है, क्योंकि नैष्कर्म्य के बिना कोई भी प्रवृत्ति शुभ नहीं होती।

आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार सकर्मा, सत्कर्मा और निष्कर्मा–आत्मा की ये तीनों अवस्थाएँ क्रमशः बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का ही नामान्तर है। जो मनुष्य शरीर और आत्मा को एक मानता है, वह बहिरात्मा है। जो मनुष्य शरीर और आत्मा की भिन्नता का अनुभव करता है, वह अन्तरात्मा है। जो मनुष्य सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के द्वारा आत्मा के आवृत्त रूप को प्रकट करता है, वह परमात्मा है।[22] इन्हें क्रमशः मूर्च्छा की चेतना, जागृति की चेतना और वीतरागता की चेतना कह सकते हैं।

अध्यात्म-विकास के सूत्र

स्व की अनुभूति के लिए जो साधना की जाती है, वह अध्यात्म–साधना है। जैन आगम एवं आगमेतर साहित्य में अध्यात्म विकास के अनेक सूत्रों का उल्लेख मिलता है। आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार अध्यात्म विकास की निम्नतम भूमि से उच्चतम भूमि तक पहुंचने के लिए चार तत्त्वों को जानना आवश्यक है। एक वह, जिससे दुःख का सृजन होता है, दूसरा वह जो दुःख होता है। तीसरा वह, जिससे दुःख का निरोध होता है। चौथा वह जिससे दुःख क्षीण होता है। जिससे दुःख का सृजन होता है, वह आश्रव है। जो दुःख होता है, वह कर्म है। जिससे दुःख का निरोध होता है, वह संवर है और जिससे दुःख क्षीण होता है, वह निर्जरा है। अतः आध्यात्मिक साधना करने वालों को संवर और निर्जरा को समझकर संवर के द्वारा आश्रव का निरोध और निर्जरा के द्वारा संचित कर्म का शोधन करना चाहिए।

संवर

कर्मों का निरोध करने वाली आत्मा की अवस्था का नाम संवर है। तत्त्वार्थसूत्र में आश्रव के निरोध को संवर कहा है।[23] आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार संवर का अर्थ है–अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं जब तक चय को रिक्त नहीं किया जाता और आश्रव द्वार को बंद नहीं किया जाता। जिस प्रकार आँधी आने पर पहले दरवाजे बंद कर दिये जाते हैं और फिर झाडू लेकर कचरे की सफाई की जाती है। उसी प्रकार आत्मशोधन के लिए आश्रव रूपी द्वार को बंद किया जाता है। इस निरोध के द्वारा बाहर से आने वाले परमाणुओं का स्थगन हो जाता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग– ये पाँच आश्रव द्वार हैं।[24]

आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं–आत्मा निश्छिद्र है। उसमें कोई दरवाजा नहीं है किन्तु कषाययुक्त आत्मा में छिद्र बन जाते हैं, दरवाजे बन जाते हैं। मिथ्यात्व पहला दरवाजा है। इससे कर्म परमाणु भीतर आते हैं, दृष्टिकोण को

विपरीत बना देते हैं। सम्यक्त्व संवर की साधना के द्वारा इस दरवाजे को बंद किया जाता है। दूसरा दरवाजा है– अविरति। व्रत संवर की साधना के द्वारा इसका निरोध किया जाता है।

तीसरा दरवाजा है– प्रमाद। इसका निरोध अप्रमाद–आत्मा के प्रति सतत जागरुकता की साधना के द्वारा किया जाता है।

चौथा दरवाजा है– कषाय। इसमें प्रवेश करते ही प्राणी राग–द्वेष के रंग से रंग जाता है। राग से रक्त मनुष्य माया और लोभ का आचरण करता है तथा द्वेष से युक्त मनुष्य क्रोध और अहंकार का आचरण करता है। इन कषाय के प्रकंपनों से प्रथम तीन दरवाजे खुले रहते हैं। इसके प्रकंपन जितने कम होते हैं, उतना ही उनका निरोध होता है। इसका निरोध अकषाय संवर की साधना के द्वारा किया जाता है।

पांचवां दरवाजा है– योग–प्रवृत्ति अथवा चंचलता। योग के तीन रूप हैं–शरीर की प्रवृत्ति, वाणी की प्रवृत्ति और मन की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति के द्वारा पुद् गलों का आकर्षण होता है। जीव और पुद्गल के संबंध में योग की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अयोग संवर की साधना के द्वारा इसका निरोध किया जाता है। शरीर की प्रवृत्ति का निरोध कायोत्सर्ग और कायगुप्ति के द्वारा, वचन की प्रवृत्ति का निरोध वचनगुप्ति अथवा मौन के द्वारा, मन की प्रवृत्ति का निरोध ध्यान के द्वारा होता है।[25]

संवर-सिद्धि की साधना

जब तक संवर की साधना नहीं की जाती, तब तक संवर सिद्ध नहीं होता। आचार्य उमास्वाति ने संवर की साधना के कुछ उपाय बताये हैं। वे हैं–गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय और चारित्र।[26] आचार्य महाप्रज्ञ ने संवर की साधना के लिए चार बातों पर बल दिया–संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान।[27] संयम के द्वारा जो आ रहा था उसे रोक दिया जाता है। चारित्र के द्वारा जो पहले से संचित था, उसे खाली किया जाता है। प्रतिक्रमण के द्वारा जो आश्रव चल रहा है, उस आश्रव से अपने स्वभाव में लौट आते हैं तथा प्रत्याख यान के द्वारा भविष्य में पुनः राग–द्वेष के क्षण में न जाने का संकल्प लेते हैं। दोनों ओर से राग–द्वेष का अनुभव समाप्त होने पर वर्तमान का क्षण चैतन्य के अनुभव का क्षण होता है और वही संवर है।

संवर सिद्धि की प्रक्रिया में सबसे पहले चंचलता (योग) का निरोध किया जाता है। चंचलता कम होने पर कषाय स्वतः कम होता चला जाता है जिससे अकषाय संवर पुष्ट बनता है? कषाय कम होने पर प्रमाद कम हो जाता है। प्रमाद कम होने पर आकांक्षा कम हो जाती है, जिससे व्रत संवर का विकास

होने लगता है, व्रत संवर का विकास होने पर मिथ्या दर्शन समाप्त हो जाता है। अतः साधना की दृष्टि से प्रथम है योग का निरोध, अयोग संवर। यही संवर की प्रक्रिया है।

प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में संवर की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं– संवर की भूमिका में आन्तरिक शुद्धि और अनुभूति प्रधान होती है। उसके लिए निम्न प्रयोग है–

1.	कायोत्सर्ग– अभ्यासकाल	30 मिनिट
2.	दीर्घश्वास–अभ्यासकाल	10 मिनिट
3.	समवृत्तिश्वास–अभ्यासकाल	10 मिनिट
4.	चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा–अभ्यासकाल	45 मिनिट
5.	लेश्याध्यान– अभ्यासकाल	45 मिनिट।[28]

निर्जरा

जैन आगम एवं आगमेतर साहित्य में निर्जरा के भेद–प्रभेदों का विस्तृत विवेचन मिलता है। भगवान महावीर ने तप के बारह भेद बतलाए।

इन बारह भेदों में प्रथम छः बहिरंग तपोयोग के और शेष छः अंतरंग तपोयोग के प्रकार हैं। अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति–संक्षेप, रस–परित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता–तपस्या के ये छह प्रकार स्थूल शरीर के माध्यम से कर्म शरीर को प्रकंपित करते हैं, अतः इसे बहिरंग तप कहा जाता है तथा प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग– तपस्या के ये छह प्रकार मन के माध्यम से कर्म–शरीर को प्रकंपित करते हैं अतः इसे अंतरंग तप कहते हैं।[29]

आचार्य महाप्रज्ञजी ने निर्जरा के इन बारह भेदों को चार सूत्रों में समाहित किया है– आहार शुद्धि, काय सिद्धि, इन्द्रिय संयम और ध्यान। उनका मानना है कि निर्जरा की प्रक्रिया का यह क्रम पूर्ण वैज्ञानिक है, क्योंकि जब तक आहार शुद्धि नहीं होती तब तक काय शुद्धि, इन्द्रिय शुद्धि की साधना भी संभव नहीं हो सकती।

- **आहार शुद्धि**– निर्जरा की साधना का प्रथम सूत्र है– आहारशुद्धि। आहार शुद्धि का प्रथम बिन्दु है–उपवास या अनशन। आयुर्वेद के आचार्य जहाँ स्वास्थ्य के लिए उपवास आवश्यक मानते हैं, वहीं जैन आचार्य अपने आपको साधने के लिए उपवास करना जरूरी मानते हैं। आचारांग सूत्र में भगवान महावीर के लिए बतलाया गया–महावीर बीमार नहीं थे, फिर भी पूरा भोजन नहीं करते थे। इसका अर्थ है–कम खाना स्वास्थ्य का ही नहीं साधना का भी महत्वपूर्ण अंग है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं–अधिक आहार से मल संचित होता है। जिसके शरीर में मल संचित होता है, उसका नाड़ी संस्थान शुद्ध नहीं रहता और मन भी निर्मल नहीं रहता। ज्ञान और क्रिया–इन दोनों की अभिव्यक्ति का

माध्यम नाड़ी संस्थान है। नाड़ी संस्थान के कार्य में कोई अवरोध न हो, मन की निर्मलता बनी रहे, अपानवायु दूषित न हो। इन्हीं तथ्यों के आधार पर उपवास, मित भोजन, रसपरित्याग आदि मार्ग सुझाये गये। निर्जरा के ये प्रथम चार भेद आहार–शुद्धि से जुड़े हुए हैं।[30]

● **काय सिद्धि**– निर्जरा की साधना का दूसरा सूत्र है– काय सिद्धि। जब तक शरीर की सिद्धि नहीं होती, तब तक आगे नहीं बढ़ा जा सकता। साधना में एक बाधा है–द्वन्द्व। सर्दी–गर्मी, भूख–प्यास–ये सारे द्वन्द्व साधना में बाधक बनते हैं। बाह्य तप का एक प्रकार है–कायक्लेश। जिसके द्वारा काया की सिद्धि होती है। आसन करने से शरीर सधता है तथा द्वन्द्वों को सहन करने की क्षमता विकसित हो जाती है। शरीरगत चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने में भी आसनों का अत्यन्त महत्व है। आचार्य महाप्रज्ञजी लिखते हैं–जब हम आसन करते हैं तब हमारे चैतन्यकेन्द्र जागृत होते हैं। यह केन्द्र या चक्र मूलतः कर्मशरीर में हैं। वहाँ से वे प्राणशरीर में और प्राणशरीर से स्थूल शरीर में प्रतिबिम्बित होते हैं। आसन के द्वारा शरीर में सक्रियता पैदा करने पर उसका प्रभाव प्राणशरीर और फिर कर्मशरीर तक पहुँचता है, जिससे चक्रस्थान या चैतन्यकेन्द्र सक्रिय हो जाते हैं और अपना संकुचन छोड़कर जागृत हो जाते हैं।[31]

● **इन्द्रिय संयम**– निर्जरा की साधना का तीसरा सूत्र है–इन्द्रिय संयम। इन्द्रियों की दिशा को बदल देना ही इन्द्रिय संयम या प्रतिसंलीनता है। इसकी साधना तीन प्रकार से की जा सकती है–

1. शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श–इन इन्द्रिय–विषयों का परित्याग करें।
2. इन इन्द्रिय विषयों का उपयोग करते हुए इनमें राग–द्वेष नहीं रखें। केवल शब्द सुनें किन्तु उसमें राग–द्वेष न करें। इससे श्रोत्रेन्द्रिय का संयम सधता है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के संयम भी साधे जा सकते हैं।
3. इन्द्रिय–विषयों के साथ जुड़ने वाले मन को भीतर ले जाएँ, जिससे बाहर के विषयों का आकर्षण सहज ही समाप्त हो जाए।[32]

● **ध्यान**– निर्जरा की साधना का चौथा सूत्र है– ध्यान। ज्ञान और ध्यान एक ही चित्त की दो अवस्थाएँ हैं। चित्त की चंचल अवस्था को ज्ञान और स्थिर अवस्था को ध्यान कहा जाता है। जो चित्त भिन्न–भिन्न आलम्बनों पर स्फुरित होता है, वह उसकी ज्ञानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की बिखरी हुई रश्मियों से की जा सकती है। जो चित्त एक ही आलम्बन पर स्थिर, निरुद्ध या केन्द्रित हो जाता है, वह उसकी ध्यानात्मक अवस्था है। इसकी तुलना सूर्य की केन्द्रित रश्मियों से की जा सकती है।[33]

आचार्य महाप्रज्ञजी ने बहिरंग तपोयोग के छः प्रकारों को आहारशुद्धि, कायसिद्धि और इन्द्रिय शुद्धि–इन तीन सूत्रों में समेटा। जो व्यक्ति इन तीनों को साधे बिना साधना में प्रवेश करना चाहता है तो प्रवेश पाना संभव नहीं है। अध्यात्म के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए इस क्रम से चलना जरूरी है। जो इस बहिरंग योग को कर लेता है, वह अंतरंग योग में प्रवेश पा लेता है।

आचार्य महाप्रज्ञजी के अनुसार अंतरंग योग का अर्थ है–कषाय का विसर्जन। अहंकार और ममकार का विसर्जन। अंतरंग और बहिरंग सापेक्ष हैं। दोनों की सार्थकता दोनों के समन्वय में है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग–अहंकार और ममकार विसर्जन के प्रयोग हैं। अंतरंग योग हैं–आत्मानुभूति। जिस क्षण में आत्मा विजातीय तत्वों से हटकर अपने स्वरूप में जीती है, उस क्षण में अंतरंग तपोयोग होता है। शेष सारे उस तक पहुँचाने वाले माध्यम हैं।[34] इस प्रकार संवर और निर्जरा की साधना अध्यात्म विकास की सर्वोच्च अवस्था तक ले जाने वाली साधना है।

निष्कर्ष

आत्मा को केन्द्र में रखकर जो भी क्रिया की जाती है, वह अध्यात्म है। साधना का उत्कृष्ट लक्ष्य निर्जरा है। ज्यो–ज्यों कर्मों की निर्जरा होती है, त्यों त्यों आत्म विकास की अवस्थाओं में आरोहरण होता रहता है। उत्कृष्ट अवस्था अनावृत्त चेतना का विकास है। इस अवस्था को प्राप्त करने के इच्छुक साधकों को संवर और निर्जरा को समझकर संवर के द्वारा आश्रव का निरोध और निर्जरा के द्वारा संचित कर्म का शोधन करना चाहिए।

सन्दर्भ

1. अध्यात्मसार, 2003, आचार्य शिवमुनि, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्र. 1, अ. 2/2
2. क्षु. जिनेन्द्र वर्णी, 1990, भारतीय ज्ञानपीठ, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम भाग, पृ. 54
3. श्रीमद् भगवत गीता (8/9), सम्पादक–डॉ. कमला भण्डारी, अर्पणा ट्रस्ट मधुबन, करनाल (हरियाणा) पृ. 566
4. आचार्य महाप्रज्ञ, 2004, मैं : मेरा मन : मेरी शान्ति, आदर्श साहित्य संघ, पृ. 73,
5. आचार्य महाप्रज्ञ, 2002, अध्यात्म के रहस्य, जैन विश्व भारती, लाड़नूं
6. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1992, समयसार : निश्चय और व्यवहार, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, पृ.4
7. आचार्य महाप्रज्ञ, 1996, मनोनुशासनम्, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 10
8. आचार्य महाप्रज्ञ, 2014, जैन दर्शन : मनन और मीमांसा, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, पृ. 357
9. आचार्य महाप्रज्ञ, 2005, जैन योग, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 46–47
10. वही, पृ. 70–71
11. वही, पृ. 88
12. वही, पृ. 107
13. वही, पृ. 111

14. वही, पृ. 112
15. आचार्य महाप्रज्ञ, 1998, सोया मन जग जाये, जैन विश्व भारती, लाड़नूं,
16. वही, पृ. 162
17. वही, पृ. 177
18. वही, पृ. 190
19. आचार्य महाप्रज्ञ, 2005, संबोधि, जैन विश्व भारती, लाडनूं, 3/14, पृ. 65
20. वही, 3/39, पृ. 75
21. वही, 3/37, 38, पृ. 75
22. जैन योग, पृ. 13
23. पं. सुखलाल संघवी, 1993, तत्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी–5, 9/1, पृ. 206
24. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1985, कर्मवाद, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 97
25. आचार्य महाप्रज्ञ, 2002, इक्कीसवीं शताब्दी और जैन धर्म, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, पृ. 327–330
26. तत्त्वार्थ सूत्र, पृ. 206
27. कर्मवाद, पृ. 95
28. आचार्य महाप्रज्ञ, 2003, भीतर की ओर, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, पृ. 289
29. आचार्य महाप्रज्ञ, 1997, सत्य की खोज : अनेकान्त के आलोक में, जैन विश्व भारती, लाड़नूं, पृ. 70
30. जैन योग, पृ. 123
31. युवाचार्य महाप्रज्ञ, 1991, महावीर की साधना का रहस्य, आदर्श साहित्य संघ, चूरू, पृ. 215
32. जैन योग, पृ. 123
33. वही, पृ. 124
34. प्रेक्षाध्यान पत्रिका, जनवरी, 1990, तुलसी अध्यात्म नीडम, लाडनूं, पृ. 8

****